उपशम

प्रायः टीकाओं में लोग नयी बात खोजते हैं; किन्तु वस्तुतः सत्य तो सत्य है। वह न नया होता है और न पुराना पड़ता है। नयी बातें तो अखबारों में छपती रहती हैं, जो मरती-उभरती घटनाएँ हैं। सत्य अपरिवर्तनशील है, तो कोई दूसरा कहे भी क्या। यदि कहता है, तो उसने पाया नहीं। प्रत्येक महापुरुष यदि चलकर उस लक्ष्य तक पहुँच गया, तो एक ही बात कहेगा। वह समाज के बीच दरार नहीं डाल सकता। यदि डालता है, तो सिद्ध है उसने पाया नहीं। श्रीकृष्ण भी उसी सत्य को कहते हैं, जो पूर्व मनीषियों ने देखा था, पाया था और भविष्य में होनेवाले महापुरुष भी यदि पाते हैं, तो यही कहेंगे।

महापुरुष और उनकी कार्य-प्रणाली- महापुरुष दुनिया में सत्य के नाम पर फैली और सत्य-सी प्रतीत होनेवाली कुरीतियों का शमन करके कल्याण का पथ प्रशस्त कर देते हैं। यह पथ भी दुनिया में पहले से रहता है; किन्तु उसी के समानान्तर, उसी की तरह भासनेवाले अनेक पथ प्रचलित हो जाते हैं। उनमें से सत्य को छाँटना कठिन हो जाता है कि वस्तुतः सत्य क्या है। महापुरुष सत्यस्थित होने से उनमें सत्य की पहचान करते हैं, उसे निश्चित करते हैं और उस सत्य की ओर अभिमुख होने के लिए समाज को प्रेरित करते हैं। यही राम ने किया, यही महाबीर ने किया, यही महात्मा बुद्ध ने किया, यही ईसा ने किया और यही प्रयास मुहम्मद ने किया। कबीर, गुरुनानक इत्यादि सबने यही किया। महापुरुष जब दुनिया से उठ जाता है, तो पीछे के लोग उसके बताये मार्ग पर न चलकर उसके जन्मस्थल, मृत्युस्थल और उन स्थलों को पूजने लगते हैं, जहाँ वे गये थे। क्रमशः वे उनकी मूर्ति बनाकर पूजने लगते हैं। यद्यपि आरम्भ में वे उनकी स्मृति ही सँजोते हैं किन्तु कालान्तर में भ्रम में पड़ जाते हैं और वही भ्रम रूढ़ि का रूप ले लेता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी तत्सामयिक समाज में सत्य के नाम पर पनपे हुए रीति-रिवाजों का खण्डन करके समाज को प्रशस्त पथ पर खड़ा कर दिया। अध्याय २/१६ में उन्होंने कहा, अर्जुन! असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का तीनों कालों में अभाव नहीं है। भगवान होने के कारण यह मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूँ बल्कि इनका अन्तर तत्त्वदर्शियों ने देखा; और वही मैं कहने जा रहा हूँ। तेरहवें अध्याय में उन्होंने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन उसी प्रकार किया, जो **'ऋषिभिर्बहुधागीतम्'**- ऋषियों द्वारा प्रायः गाया जा चुका था। अठारहवें अध्याय में त्याग और संन्यास का तत्त्व बताते हुए उन्होंने चार मतों में से एक का चयन किया और उसे अपना समर्थन दिया।

संन्यास - कृष्णकाल में अग्नि को न छूनेवाले तथा चिन्तन का भी त्याग करके अपने को योगी, संन्यासी कहनेवालों का सम्प्रदाय भी पनप रहा था। इसका खण्डन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग, दोनों में से किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्यागने का विधान नहीं है। कर्म तो करना ही होगा। कर्म करते-करते साधना इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि सर्वसंकल्पों का अभाव हो जाता है, वह पूर्ण संन्यास है। बीच रास्ते में संन्यास नाम की कोई वस्तु नहीं है। केवल क्रियाओं को त्याग देने से तथा अग्नि न छूने से न तो कोई संन्यासी होता है और न योगी। (जिसे अध्याय दो, तीन, पाँच, छः और विशेषकर अठारह में देखा जा सकता है।)

कर्म - ऐसी ही भ्रान्ति कर्म के सम्बन्ध में भी मिलती है। अध्याय २/३९ में उन्होंने बताया कि अर्जुन! अब तक यह बुद्धि तेरे लिए सांख्ययोग के विषय में कही गई और अब इसी को तू निष्काम कर्म के विषय में सुन। इससे युक्त होकर तू कर्मों के बन्धन का अच्छी तरह नाश कर सकेगा। इसका थोड़ा भी आचरण महान् जन्म-मरण के भय से उद्धार करानेवाला होता है। इस निष्काम कर्म में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है, बुद्धि एक ही है, दिशा भी एक ही है; लेकिन अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली है, इसलिए वे कर्म के नाम पर अनेक क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं।

अर्जुन! तू नियत कर्म कर। अर्थात् क्रियाएँ बहुत-सी हैं वे कर्म नहीं हैं। कर्म कोई निर्धारित दिशा है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे शरीरों की यात्रा का अन्त कर देता है। यदि एक भी जन्म लेना पड़ा तो यात्रा पूरी कहाँ हुई?

यज्ञ - वह नियत कर्म है कौन-सा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**'- अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है, न कि कर्म। कर्म तो इस संसार-बन्धन से मोक्ष दिलाता है। अब वह यज्ञ क्या है, जिसे क्रियान्वित करें तो कर्म सम्पादित हो सके? अध्याय चार में श्रीकृष्ण ने तेरह-चौदह तरीके से यज्ञ का वर्णन किया, जो सब मिलाकर परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली विधि-विशेष का चित्रण है - जो श्वास से, ध्यान से, चिन्तन और इन्द्रिय-संयम इत्यादि से सिद्ध होनेवाला है। श्रीकृष्ण ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भौतिक द्रव्यों से इस यज्ञ का कोई सम्बन्ध नहीं है। भौतिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञ अत्यल्प हैं, आप करोड़ का हवन ही क्यों न करें। सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रियों की अन्तःक्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं। पूर्ण होने पर यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस अमृत तत्त्व की जानकारी का नाम ज्ञान है। उस ज्ञानामृत को पान करनेवाले योगी सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाते हैं। जिसमें प्रवेश पाना था पा ही लिया, तो फिर उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए यावन्मात्र कर्म उस साक्षात्कार सहित ज्ञान में शेष हो जाते हैं। कर्म करने के बन्धन से वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार निर्धारित यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। कर्म का शुद्ध अर्थ है - आराधना।

इस नियत कर्म, यज्ञार्थ कर्म अथवा तदर्थ कर्म के अतिरिक्त गीता में अन्य कोई कर्म नहीं है। इसी पर श्रीकृष्ण ने स्थान-स्थान पर बल दिया। अध्याय छः में इसी को उन्होंने 'कार्यम् कर्म' कहा। अध्याय सोलह में बताया कि काम, क्रोध और लोभ के त्याग देने पर ही वह कर्म आरम्भ होता है, जो परमश्रेय को दिलानेवाला है। सांसारिक कर्मों में तो जो जितना व्यस्त है, उसके पास काम, क्रोध और लोभ उतने ही अधिक सजे-सजाये दिखते

हैं, समृद्ध पाये जाते हैं। इसी नियत कर्म को उन्होंने शास्त्र-विधानोक्त कर्म की संज्ञा दी। गीता अपने में पूर्ण तथा प्रथम शास्त्र है। सर्वोपरि शास्त्र वेद हैं। वेदों के सार उपनिषद् हैं और उन सबका सारांश योगेश्वर श्रीकृष्ण की यही वाणी गीता है। सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में भी शास्त्रविधि से निर्धारित कर्म, नियत कर्म, कर्तव्य कर्म और पुण्य कर्म से इंगित करके उन्होंने बारम्बार दृढ़ाया कि नियत कर्म ही परमकल्याणकारक है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के इतना बल देने पर भी आप उस नियत कर्म को न करके, श्रीकृष्ण का कहना न मानकर उल्टी-सीधी कल्पना करते हैं कि जो कुछ भी संसार में किया जाता है, कर्म है। कुछ भी त्यागने की जरूरत नहीं है केवल फल की कामना न करो, हो गया निष्काम कर्मयोग। कर्त्तव्य भावना से करो - हो गया कर्त्तव्य योग। कुछ भी करो, नारायण को समर्पण कर दो - हो गया समर्पण योग। इसी प्रकार यज्ञ का नाम आते ही हम भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, पंचयज्ञ, विष्णु के निमित्त किया जानेवाला यज्ञ गढ़ लेते हैं और उसकी क्रिया में स्वाहा बोलकर खड़े हो जाते हैं। यदि श्रीकृष्ण ने स्पष्ट न कहा हो, तो हम कुछ भी करें। यदि बताया है, तो जितना कहा है उतना ही मान लें। किन्तु हम मान नहीं पाते। विरासत में अनेक रीति-रिवाज, पूजा-पद्धतियाँ हमारे मस्तिष्क को जकड़े हुए हैं। बाह्य वस्तुओं को कदाचित् हम बेचकर भाग भी सकते हैं, किन्तु ये पूर्वाग्रह मस्तिष्क में बैठकर हमारे साथ चलते हैं। श्रीकृष्ण के शब्दों को भी हम इन्हीं के अनुरूप ढालकर ग्रहण करते हैं। गीता तो अत्यन्त बोधगम्य, सरल संस्कृत में है। आप अन्वयार्थ भी लें तो कभी संदेह नहीं होगा। यही प्रयास प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

युद्ध - यदि यज्ञ और कर्म, दो प्रश्न ही यथार्थ समझ लें तो युद्ध, वर्ण-व्यवस्था, वर्णसंकर, ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा संक्षेप में सम्पूर्ण गीता ही आपकी समझ में आ जाय। अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। वह धनुष फेंककर रथ के पिछले भाग में बैठ गया; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण ने एकमात्र कर्म की शिक्षा देकर कर्म को केवल दृढ़ाया ही नहीं बल्कि अर्जुन को उस कर्म पर चला भी दिया। युद्ध हुआ, इसमें सन्देह नहीं। गीता के पन्द्रह-बीस श्लोक ऐसे हैं जिनमें बार-बार कहा गया, अर्जुन! तू युद्ध कर; किन्तु एक भी

श्लोक ऐसा नहीं है, जो बाहरी मार-काट का समर्थन करता है। (द्रष्टव्य है - अध्याय २, ३, ११, १५ और १८) क्योंकि जिस कर्म पर बल दिया गया- वह था नियत कर्म, जो एकान्त देश के सेवन से, चित्त को सब ओर से समेटकर ध्यान करने से होता है। जब कर्म का यही स्वरूप है, चित्त एकान्त और ध्यान में लगा है तो युद्ध कैसा? यदि गीतोक्त कल्याण युद्ध करनेवाले के लिए ही है, तो आप गीता का पिण्ड छोड़ दें। आपके समक्ष अर्जुन जैसी युद्ध की कोई परिस्थिति तो है नहीं। वस्तुतः तब भी वह परिस्थिति विद्यमान थी और आज भी ज्यों-की-त्यों है। जब चित्त को सब ओर से समेटकर आप हृदय-देश में ध्यान करने लगेंगे, तो काम, क्रोध, राग, द्वेषादि विकार आपके चित्त को टिकने नहीं देंगे। उन विकारों से संघर्ष करना, उनका अन्त करना ही युद्ध है। विश्व में युद्ध होते ही रहते हैं; किन्तु उससे कल्याण नहीं अपितु विनाश होता है। उसे शान्ति कह लें अथवा परिस्थिति। अन्य कोई शान्ति इस दुनिया में नहीं मिलती। शान्ति तभी मिलती है, जब यह आत्मा अपने शाश्वत को पा ले। यही एकमात्र शान्ति है, जिसके पीछे अशान्ति नहीं है। किन्तु यह शान्ति साधनगम्य है, उसी के लिये नियत कर्म का विधान है।

वर्ण – उस कर्म को ही चार वर्णों में बाँटा गया। चिन्तन में लगते तो सभी हैं; किन्तु कोई श्वास-प्रश्वास की गति रोकने में सक्षम होगा, तो कोई आरम्भ में दो घण्टे चिन्तन में बैठकर दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाता। ऐसी स्थितिवाला अल्पज्ञ साधक शूद्र श्रेणी का है। वह अपनी स्वाभाविक क्षमता के अनुसार परिचर्या से ही कर्म आरम्भ करे। क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय और विप्र श्रेणी की क्षमता उसके स्वभाव में ढलती जायेगी। वह उन्नत होता जायेगा। किन्तु वह ब्राह्मण श्रेणी दोषयुक्त है; क्योंकि अभी वह ब्रह्म अलग है। ब्रह्म में प्रवेश पा जाने पर वह ब्राह्मण भी नहीं रह जाता। वर्ण का अर्थ है आकृति। यह शरीर आपकी आकृति नहीं है। आपकी आकृति वैसी है, जैसी आपकी वृत्ति है? श्रीकृष्ण कहते हैं – अर्जुन! पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए कहीं न कहीं उसकी श्रद्धा अवश्य होगी। जैसी श्रद्धावाला वह पुरुष है, स्वयं भी वही है। जैसी वृत्ति, वैसा पुरुष। वर्ण कर्म की क्षमता का आन्तरिक मापदण्ड है; किन्तु लोगों ने नियत कर्म को छोड़कर बाहर समाज में जन्म के

आधार पर जातियों को वर्ण मानकर उनकी जीविका निश्चित कर दी, जो एक सामाजिक व्यवस्था मात्र थी। वे कर्म के यथार्थ रूप को तोड़ते-मरोड़ते हैं, जिससे उनकी खोखली सामाजिक मर्यादा और जीविका को ठेस न लगे। कालान्तर में वर्ण का निर्धारण केवल जन्म से होने लगा। ऐसा कुछ नहीं है। श्रीकृष्ण ने कहा, चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। क्या भारत से बाहर सृष्टि नहीं है? अन्यत्र तो इन जातियों का अस्तित्व ही नहीं है। भारत में इनके अन्तर्गत लाखों जातियाँ और उप-जातियाँ हैं। श्रीकृष्ण ने क्या मनुष्यों को बाँटा था? नहीं, **'गुणकर्म विभागशः'**- गुण के आधार पर कर्म बाँटे गये। **'कर्माणि प्रविभक्तानि'**- कर्म बाँटा गया। कर्म समझ में आ गया, तो वर्ण समझ में आ जायेगा और वर्ण समझ में आ गया, तो वर्णसंकर का यथार्थ रूप आप समझ लेंगे।

वर्णसंकर – इस कर्मपथ से च्युत होना ही वर्णसंकर है। आत्मा का शुद्ध वर्ण है परमात्मा। उसमें प्रवेश दिलानेवाले कर्म से हटकर प्रकृति में मिश्रित हो जाना ही वर्णसंकर है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि इस कर्म को किये बिना उस स्वरूप को कोई पाता नहीं और प्राप्तिवाले महापुरुष को कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि। फिर भी लोक-संग्रह के लिए वे कर्म में बरतते हैं। उन महापुरुषों की तरह मुझे भी प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं पीछेवालों के हित की इच्छा से कर्म में ही बरतता हूँ। यदि न करूँ तो सभी वर्णसंकर हो जायँ। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर होना तो सुना गया; किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि स्वरूपस्थ महापुरुष कर्म न करे तब लोग वर्णसंकर हो जाते हैं। उस महापुरुष की नकल करके आराधना बन्द कर देने से वे प्रकृति में भटकते रहेंगे, वर्णसंकर हो जायेंगे; क्योंकि इस कर्म को करके ही उस परम नैष्कर्म्य की स्थिति को, अपने शुद्ध वर्ण परमात्मा को पाया जा सकता है।

ज्ञानयोग तथा कर्मयोग – कर्म एक ही है, नियत कर्म, आराधना; किन्तु उसे करने के दृष्टिकोण दो हैं। अपनी शक्ति को समझकर, हानि-लाभ का निर्णय लेकर इस कर्म को करना 'ज्ञानयोग' है। इस मार्ग का साधक जानता है कि, ''आज मेरी यह स्थिति है, आगे इस भूमिका में परिणत हो

जाऊँगा। फिर अपने स्वरूप को प्राप्त करूँगा।'' इस भावना को लेकर कर्म में प्रवृत्त होता है। अपनी स्थिति का ज्ञान रखकर चलता है, इसलिए ज्ञानमार्गी कहा जाता है। समर्पण के साथ उसी कर्म में प्रवृत्त होना, हानि-लाभ का निर्णय इष्ट पर फेंककर चलना निष्काम कर्मयोग, भक्तिमार्ग है। दोनों के प्रेरक सद्‌गुरु हैं। एक ही महापुरुष से शिक्षा लेकर एक स्वावलम्बी होकर उस कर्म में प्रवृत्त होता है और दूसरा उनसे शिक्षा लेकर, उन्हीं पर निर्भर होकर प्रवृत्त होता है। बस अन्तर इतना ही है। इसीलिये योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! सांख्य द्वारा जो परम सत्य मिलता है, वही परम सत्य निष्काम कर्मयोग द्वारा भी मिलता है। जो दोनों को एक देखता है वही यथार्थ देखता है। दोनों की क्रिया बतानेवाला तत्त्वदर्शी एक है, क्रिया भी एक ही है- आराधना। कामनाओं का त्याग दोनों करते हैं और परिणाम भी एक ही है। केवल कर्म का दृष्टिकोण दो है।

एक परमात्मा - नियत कर्म मन और इन्द्रियों की एक निर्धारित अन्तःक्रिया है। जब कर्म का यही स्वरूप है तो बाहर मन्दिर, मस्जिद, चर्च बनाकर देवी-देवताओं की मूर्ति या प्रतीक पूजना कहाँ तक संगत है? भारत में हिन्दू कहलानेवाला समाज (वस्तुतः वे सनातनधर्मी हैं। उनके पूर्वजों ने परमसत्य की शोध करके देश-विदेश में उसका प्रचार किया। उस पथ पर चलनेवाला विश्व में कहीं भी हो, सनातनधर्मी है। इतना गौरवशाली हिन्दू समाज) कामनाओं से विवश होकर विविध भ्रान्तियों में पड़ गया। श्रीकृष्ण कहते हैं, अर्जुन! देवताओं के स्थान पर देवता नाम की कोई शक्ति नहीं है। जहाँ कहीं भी मनुष्य की श्रद्धा झुकती है, उसकी ओट में खड़ा होकर मैं ही फल देता हूँ। उसकी श्रद्धा को पुष्ट करता हूँ; क्योंकि मैं ही सर्वत्र हूँ। किन्तु उसका वह पूजन अविधिपूर्वक है, उनका वह फल नाशवान् है। कामनाओं से जिनके ज्ञान का अपहरण हो गया है, वे मूढ़बुद्धि ही अन्य देवताओं को पूजते हैं। सात्त्विक लोग देवताओं को पूजते हैं, राजसी यक्ष-राक्षसों को तथा तामसी भूत-प्रेतों को पूजते हैं। घोर तप करते हैं। किन्तु अर्जुन! वे शरीर में स्थित भूत समुदाय और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करते हैं, न कि पूजते हैं। उन्हें निश्चय ही तू आसुरी स्वभाव से संयुक्त जान। इससे

अधिक श्रीकृष्ण क्या कहते? उन्होंने स्पष्ट कहा - अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में रहता है, केवल उसी की शरण जाओ। पूजा की स्थली हृदय में है, बाहर नहीं। फिर भी लोग पत्थर-पानी, मन्दिर-मस्जिद, देवी-देवताओं का पीछा करते ही हैं। उन्हीं के साथ श्रीकृष्ण की भी एक प्रतिमा बढ़ा लेते हैं। श्रीकृष्ण की ही साधना पर बल देनेवाले तथा जीवन भर मूर्तिपूजा का खण्डन करनेवाले बुद्ध की भी मूर्ति उनके अनुयायियों ने बना ली और लगे पूजा करने (दीप दिखाने), जबकि बुद्ध ने कहा था - आनन्द! तथागत की शरीर-पूजा में समय नष्ट न करना।

मन्दिर, मस्जिद, चर्च, तीर्थ, मूर्तियाँ तथा स्मारकों से पूर्ववर्ती महापुरुषों की स्मृतियाँ सँजोयी जाती हैं, जिससे उनकी उपलब्धियों का स्मरण होता रहे। महापुरुषों में स्त्री-पुरुष सभी होते आये हैं। जनक की कन्या 'सीता' पिछले जन्म में एक ब्राह्मण-कन्या थी। अपने पिता की प्रेरणा से परमब्रह्म को पाने के लिए उसने तपस्या की; किन्तु सफल न हो सकी। दूसरे जन्म में उसने राम को प्राप्त किया और चिन्मय, अविनाशी, आदिशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई। ठीक इसी प्रकार, राजकुल में उत्पन्न मीरा में परमात्मा की भक्ति का प्रस्फुटन हुआ। सबकुछ छोड़कर वह भगवान के चिन्तन में लग गयी। व्यवधानों को झेला और सफल रही। इनकी स्मृति सँजोने के लिए मन्दिर बने, स्मारक बने ताकि समाज उनके उपदेशों से अनुप्राणित हो सके। मीरा, सीता अथवा इस पक्ष का शोधकर्त्ता प्रत्येक महापुरुष हमारा आदर्श है। हमें उनके पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिये; किन्तु इससे बड़ी भूल क्या होगी कि यदि हम केवल उनके चरणों में फूल चढ़ाकर, चन्दन लगाकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान बैठें।

प्राय: जो जिसका आदर्श होता है, उसकी मूर्ति, चित्र, खड़ाऊँ, उसका स्थान अथवा उससे सन्दर्भित कुछ भी देखने-सुनने पर मन में श्रद्धा उमड़ आती है। यह उचित ही है। हम भी अपने गुरुदेव भगवान के चित्र को कूड़े में नहीं फेंक सकते; क्योंकि वह हमारे आदर्श हैं। उन्हीं की प्रेरणा तथा कथनानुसार हमें चलना है। जो स्वरूप उनका है क्रमशः चलकर उसकी प्राप्ति हमारा भी अभीष्ट है और यही उनकी यथार्थ पूजा है। यहाँ तक तो ठीक है कि जो

वस्तुतः आदर्श हैं, उनका निरादर न करें; किन्तु उन पर पत्र-पुष्प चढ़ाने को ही भक्ति मान बैठने से, उतने को ही कल्याण-साधन मान लेने से हम लक्ष्य से बहुत दूर भटक जायेंगे।

अपने आदर्शों के उपदेशों को हृदयंगम करने तथा उस पर चलने की प्रेरणा ग्रहण करने के लिए ही स्मारकों का उपयोग है; चाहे उसे आश्रम, मन्दिर, मस्जिद, चर्च, मठ, विहार, गुरुद्वारा या कुछ भी नाम दे लें। बशर्ते उन केन्द्रों का सम्बन्ध धर्म से है तो। जिसकी प्रतिमा है, उसने क्या किया? और क्या पाया? कैसे तपस्या की? कैसे प्राप्त किया? केवल इतना ही सीखने के लिए हम वहाँ पहुँचते हैं और पहुँचना भी चाहिये; किन्तु यदि इन स्थानों पर महापुरुषों के पदचिह्न नहीं बताये गये, करके नहीं सिखाये गये, कल्याण की व्यवस्था नहीं मिली तो वह स्थान गलत है। वहाँ आपको केवल रूढ़ि मिलेगी। वहाँ जाने में आपका नुकसान है। व्यक्तिगत रूप से घर-घर, गली-गली जाकर उपदेश पहुँचाने की अपेक्षा सामूहिक उपदेश केन्द्रों के रूप में इन धार्मिक संस्थानों की स्थापना की गई थी; किन्तु कालान्तर में इन प्रेरणास्थलियों से ही मूर्ति-पूजा तथा रूढ़ियों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया। यहीं से भ्रम पनप गया।

ग्रन्थ – इसी प्रकार पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक है, जिससे आप उस निर्दिष्ट क्रिया को समझ सकें, जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नियत कर्म कहा है और जब समझ में आ जाय तो तुरन्त करने में लग जायँ। विस्मृत होने लगे, तो पुनः अध्ययन कर लें। यह नहीं कि पुस्तक को हाथ जोड़कर अक्षत, चन्दन छिड़ककर रख दें। पुस्तक मार्ग-निर्देशक चिह्न है, जो पूर्तिपर्यन्त साथ देता है। देखते हुए आगे बढ़ते चलें अपने गन्तव्य की ओर। जब इष्ट को हृदय से पकड़ लेंगे, तो वह इष्ट ही पुस्तक बन जायेगा। अतः स्मृति सँजोना हानिकारक नहीं है; किन्तु इन स्मृतिचिह्नों की पूजा से ही सन्तुष्ट हो जाना हानिकारक है।

धर्म – (अध्याय २/१६-२९) योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार – असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। परमात्मा ही सत्य है, शाश्वत है। अजर, अमर, अपरिवर्तनशील और सनातन है; किन्तु

वह परमात्मा अचिन्त्य और अगोचर है, चित्त की तरंगों से परे है। अब चित्त का निरोध कैसे हो? चित्त का निरोध करके उस परमात्मा को पाने की विधि-विशेष का नाम कर्म है। इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है, दायित्व है।

गीता (अध्याय २/४०) में है कि अर्जुन! इस कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है। इस कर्मरूपी धर्म का किंचिन्मात्र साधन जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करनेवाला होता है अर्थात् इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है।

इस नियत कर्म (साधन-पथ) को साधक के स्वभाव में उपलब्ध क्षमता के अनुसार चार भागों में बाँटा गया है। कर्म को समझकर मनुष्य जबसे आरम्भ करता है, उस आरम्भिक अवस्था में वह शूद्र है। क्रमशः विधि पकड़ में आयी तो वही वैश्य है। प्रकृति के संघर्ष को झेलने की क्षमता और शौर्य आने पर वही व्यक्ति क्षत्रिय और ब्रह्म के तद्रूप होने की क्षमता - ज्ञान (वास्तविक जानकारी), विज्ञान (ईश्वरीय वाणी का मिलना), उस अस्तित्व पर निर्भर रहने की क्षमता ऐसी योग्यताओं के आने पर वही ब्राह्मण है। इसलिये योगेश्वर श्रीकृष्ण (गीता, अध्याय १८/४६-४७ में) कहते हैं कि स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार कर्म में लगना स्वधर्म है। हल्का होने पर भी स्वभाव से उपलब्ध स्वधर्म श्रेयतर है और क्षमता अर्जित किये बिना ही दूसरों के उन्नत कर्म का परिपालन भी हानिकारक है। स्वधर्म में मरना भी श्रेयस्कर है; क्योंकि वस्त्र बदलने से बदलनेवाला तो बदल नहीं जाता। उसके साधन का क्रम वहीं से पुनः आरम्भ हो जायेगा, जहाँ से छूटा था। सोपानशः चलकर वह परमसिद्धि अविनाशी पद को पा लेगा।

इसी पर पुनः बल देते हैं कि जिस परमात्मा से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वत्र व्याप्त है, स्वभाव से उत्पन्न हुई क्षमता के अनुसार उसे भलीभाँति पूजकर मानव परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् निश्चित विधि से एक परमात्मा का चिन्तन ही धर्म है।

धर्म में प्रवेश किसको है? इसे करने का अधिकार किसे है? इसे स्पष्ट करते हुए योगेश्वर ने बताया कि, ''अर्जुन! अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य

भाव से मुझे भजता है(अनन्य अर्थात् अन्य न), मुझे छोड़कर अन्य किसी को भी न भजकर केवल मुझे भजता है तो **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'**- वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, उसकी आत्मा धर्म से संयुक्त हो जाती है।'' अतः श्रीकृष्ण के अनुसार धर्मात्मा वह है, जो एक परमात्मा में अनन्य निष्ठा से लग गया है। धर्मात्मा वह है, जो एक परमात्मा की प्राप्ति के लिये नियत कर्म का आचरण करता है। धर्मात्मा वह है, जो स्वभाव से नियत क्षमता के अनुसार परमात्मा की शोध में संलग्न है।

अन्त में कहते हैं कि **''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।''**- अर्जुन! सारे धर्मों की चिन्ता छोड़कर एक मेरी शरण में हो जा। अतः एक परमात्मा के प्रति समर्पित व्यक्ति ही धार्मिक है। एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करना ही धर्म है। उस एक परमात्मा की प्राप्ति की निश्चित क्रिया को करना धर्म है। इस स्थिति को प्राप्त महापुरुष, आत्मतृप्त महापुरुषों का सिद्धान्त ही सृष्टि में एकमात्र धर्म है। उनकी शरण में जाना चाहिए कि उन महापुरुषों ने कैसे उस परमात्मा को पाया? किस मार्ग से चले? वह मार्ग सदा एक ही है, उस मार्ग से चलना धर्म है।

धर्म मनुष्य के आचरण की वस्तु है। वह आचरण केवल एक है - **''व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।'' (२/४१)** इन कर्मयोग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है - इन्द्रियों की चेष्टा और मन के व्यापार को संयमित कर आत्मा में (परात्पर ब्रह्म में) प्रवाहित करना (४/२७)।

धर्मान्तरण- सनातन धर्म के आदिदेश भारत में कुरीतियाँ यहाँ तक पनपीं कि मुसलमानों के आक्रमण के समय उनका धर्म आक्रामकों के हाथ का एक ग्रास चावल खाने से, दो घूँट पानी पीने से नष्ट होने लगा। धर्मभ्रष्ट घोषित हजारों हिंदुओं ने आत्महत्या कर ली। धर्म के लिये वे मरना जानते थे लेकिन धर्म समझें तब तो। धर्म तो हो गया छुईमुई। छुईमुई का पौधा छूने पर मुरझा जाता है, किन्तु छूटते ही पनप जाता है। उनका सनातन धर्म तो ऐसा मुरझाया कि कभी नहीं पनपा। जिस सनातन आत्मा को भौतिक वस्तुएँ स्पर्श भी नहीं कर पातीं, वह कहीं छूने-खाने से नष्ट होता है? आप तलवार से मरें, धर्म छूने से मर गया? क्या सचमुच धर्म नष्ट हुआ?

कदापि नहीं। धर्म के नाम पर कोई कुरीति पल रही थी, वह नष्ट हुई। फिरोज तुगलक के शासनकाल में बयाना के काजी मुगीसुद्दीन ने व्यवस्था दी कि हिन्दुओं को अपना मुँह खोल देना चाहिए। यदि कोई मुसलमान थूकना चाहता है, तो वह हिन्दू दीनदार हो जायेगा; क्योंकि उसके पास कोई धर्म नहीं है। बुरा क्या कहा उसने? मुँह में थूकने से तो एक ही मुसलमान बनता, कुएँ में थूकने से तो हजारों बन जाते थे। वस्तुतः वह आततायी था या उस समय का हिन्दू समाज?

जिन्होंने इस प्रकार धर्म-परिवर्तन कर लिया, क्या कोई धर्म पा गये? हिन्दू से मुसलमान बन जाना या एक प्रकार के रहन-सहन से दूसरे रहन-सहन में चले जाना धर्म तो नहीं है। इस प्रकार योजनाबद्ध षड्यंत्र का शिकंजा बनाकर जिन्होंने उन्हें बदला, क्या वे धर्मात्मा थे? वे तो और भी बड़ी कुरीतियों के शिकार थे। हिन्दू उसी में जाकर फँस गये। अविकसित और गुमराह कबीलों को सभ्य बनाने के लिए मुहम्मद ने विवाह, तलाक, वसीयत, लेन-देन, सूद, गवाही, कसम, प्रायश्चित, रोजी-रोटी, खान-पान, रहन-सहन इत्यादि विषय में एक सामाजिक व्यवस्था दी तथा मूर्ति-पूजा, शिर्क, व्यभिचार, चोरी, शराब, जुआ, माँ-दादी इत्यादि से विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया। समलैंगिक तथा रजस्वला मैथुनों का निषेध करके रोजे के दिनों में भी इसके लिए ढील दी। जन्नत में बहुत-सी समवयस्क, अनछुई हूरों और किशोर बालकों का प्रलोभन दिया। यह कोई धर्म नहीं था, एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था थी। ऐसा कुछ कहकर उन्होंने वासना में डूबे हुए समाज को उधर से घुमाकर अपनी ओर उन्मुख किया। स्त्रियों को जन्नत में कितने पुरुष मिलेंगे? इस पर उन्होंने सोचा ही नहीं। यह उनका दोष नहीं, दोष उस देश-काल और परिस्थिति का था, जिसमें स्त्रियों की आकांक्षाओं पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता था।

मुहम्मद साहब ने जिसे धर्म बताया, उधर किसी का ध्यान ही नहीं है। उन्होंने कहा था कि जिस पुरुष का एक भी श्वास उस खुदा के नाम के बगैर खाली जाता है, उससे खुदा कयामत में वैसे ही पूछता है, जैसे किसी पापी से पाप के बदले में पूछा जाय। जिसकी सजा है हमेशा-हमेशा के लिए दोजख।

कितने सच्चे मुसलमान हैं, जिसका एक भी श्वास खाली न जाता हो? करोड़ों में कदाचित् ही कोई हो। शेष तो सभी के श्वास खाली ही जाते हैं, जिसकी सजा वही है जो पापियों के लिए है। बताने की आवश्यकता नहीं, 'दोज़ख'। मुहम्मद ने व्यवस्था दी कि जो किसी को नहीं सताता, पशुओं को ठेस नहीं पहुँचाता, वह आकाश से खुदा की आवाज सुनता है। यही सभी स्थानों के लिये था; किन्तु पीछेवालों ने एक रास्ता निकाल लिया कि मक्का में एक मस्जिद है, जिसमें हरी घास नहीं तोड़नी चाहिए, उस मस्जिद में किसी पशु को नहीं मारना चाहिए, वहाँ किसी को ठेस नहीं पहुँचानी चाहिये और घूम-फिरकर वे उसी दायरे में खड़े हो गये। क्या खुदा की आवाज सुनने से पहले मुहम्मद ने कोई मस्जिद बनवायी थी? कभी किसी मस्जिद में कोई आयत उतरी? यह मस्जिद तो उनकी स्थली रही है, जिसमें उनकी यादगार सुरक्षित है। मुहम्मद के आशय को तबरेज ने जाना था, मंसूर ने जाना था, इकबाल ने जाना था; किन्तु वे मज़हबी लोगों के शिकार बने, उन्हें यातनाएँ दी गईं। सुकरात को जहर पिलाया गया; क्योंकि वह लोगों को नास्तिक बना रहा था। ऐसा ही आरोप ईसा पर भी लगाया गया, उन्हें सूली दी गयी; क्योंकि वे विश्राम सव्वाथ के दिन भी काम करते थे, अन्धों को दृष्टि प्रदान करते थे। ऐसा ही भारत में भी है। जब भी कोई प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष सत्य की ओर इंगित करता है तो इन मन्दिर, मस्जिद, मठ, सम्प्रदाय और तीर्थों से जिनकी जीविका चलती है, हाय-हाय करने लगते हैं, अधर्म-अधर्म चिल्लाने लगते हैं। किसी को इनसे लाखों-करोड़ों की आय है, तो किसी की दाल-रोटी ही चलती है। वास्तविकता के प्रचार से उनकी जीविका को खतरा दिखाई पड़ता है। वे सत्य को पनपने नहीं देते और न दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके विरोध का कोई कारण नहीं है। सुदूरकाल में यह स्मृति क्यों सँजोयी गयी थी, इसका उन्हें भान नहीं है।

गृहस्थों का अधिकार – प्रायः लोग पूछते हैं कि जब कर्म का यही स्वरूप है, जिसमें एकान्त देश का सेवन, इन्द्रिय-संयम, निरन्तर चिन्तन और ध्यान करना है, तब तो गीता गृहस्थों के लिए अनुपयोगी है। तब तो गीता केवल साधुओं के लिए है। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। गीता मूलतः

उसके लिए है, जो इस पथ का पथिक है और अंशतः उसके लिए भी है, जो इस पथ का पथिक बनना चाहता है। गीता मानव मात्र के लिए समान आशय रखती है। सद्गृहस्थों के लिए तो इसका विशेष उपयोग है; क्योंकि वहीं से कर्म आरम्भ होता है।

श्रीकृष्ण ने कहा था, अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का भी नाश नहीं होता। इसका थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार कराके ही छोड़ता है। आप ही बतायें, थोड़ा साधन कौन करेगा? गृहस्थ अथवा विरक्त? गृहस्थ ही इसके लिए थोड़ा समय देगा, यह उसके लिए ही है। अध्याय ४/३६ में कहा - अर्जुन! यदि तू सम्पूर्ण पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, तब भी ज्ञानरूपी नौका से निःसन्देह पार हो जायेगा। अधिक पापी कौन है? जो अनवरत लगा है वह अथवा जो अभी लगना चाहता है? अतः सद्गृहस्थ आश्रम से ही कर्म का आरम्भ है। अध्याय ६/३७-४५ में अर्जुन ने पूछा - भगवन्! शिथिल प्रयत्नवाला श्रद्धावान् पुरुष परमगति को न पाकर किस दुर्गति को प्राप्त होता है? श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! योग से चलायमान हुए शिथिल प्रयत्नवाले पुरुष का भी कभी विनाश नहीं होता। वह योगभ्रष्ट श्रीमानों [**'शुचीनाम्'**-शुद्ध (सत्य) आचरणवाले ही श्रीमान हैं।] के यहाँ जन्म लेकर योगी-कुल में प्रवेश पा जाता है, साधन की ओर आकर्षित होता है और अनेक जन्मों में चलकर वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति अर्थात् परमधाम है। यह शिथिल प्रयत्न कौन करता है? योगभ्रष्ट होकर वह कहाँ जन्म लेता है? गृहस्थ ही तो बना। वहीं से वह साधनोन्मुख होता है। अध्याय ९/३० में उन्होंने कहा कि अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभाव से मुझे भजने लगे, तो वह साधु ही है; क्योंकि वह निश्चय के साथ सही रास्ते पर लग गया है। अत्यन्त दुराचारी कौन होगा? जो भजन में प्रवृत्त हो गया वह अथवा वह, जिसने अभी आरम्भ ही नहीं किया। अध्याय ९/३२ में कहा - स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनिवाले ही क्यों न हों, मेरे आश्रित होकर साधन करने से परमगति पाते हैं। हिन्दू हो, ईसाई हो, मुसलमान हो- श्रीकृष्ण ऐसा कुछ नहीं कहते, अत्यन्त दुराचारी पातकी ही क्यों न हों, मेरी शरण होकर परमगति पाते हैं।

अतः गीता मानव मात्र के लिए है। सद्गृहस्थ आश्रम से ही इस कर्म का आरम्भ है। क्रमशः वही सद्गृहस्थ योगी बनता है, पूर्ण त्यागी हो जाता है और तत्त्व का दिग्दर्शन कर परम में प्रवेश पा जाता है, जिसे श्रीकृष्ण ने कहा कि ज्ञानी मेरा स्वरूप है।

स्त्री – गीता के अनुसार शरीर एक वस्त्र है। जैसे पुराने वस्त्र को त्यागकर मनुष्य नया वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक इसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी आत्मा इस शरीररूपी वस्त्र को त्यागकर दूसरा शरीर (वस्त्र) धारण कर लेता है। आप पिण्डरूप में स्त्री हों या पुरुष, ये वस्त्र के आकार हैं।

संसार में पुरुष दो प्रकार का है – क्षर और अक्षर। समस्त प्राणियों का शरीर क्षर पुरुष अथवा परिवर्तनशील पुरुष है। मनसहित इन्द्रियाँ जब कूटस्थ हो जाती हैं, तब वही अक्षर पुरुष है। उसका कभी विनाश नहीं होता। यह भजन की अवस्था है।

स्त्रियों के प्रति कभी सम्मान, तो कभी अपमान की भावना समाज में बनी ही रहती है; किन्तु गीता की अपौरुषेय वाणी में यह है कि शूद्र (अल्पज्ञ), वैश्य (विधिप्राप्त), स्त्री-पुरुष कोई क्यों न हो, मेरी शरण आकर परमगति को प्राप्त होता है। अतः इस कल्याण-पथ में स्त्रियों का वही स्थान है, जो एक पुरुष का है।

भौतिक समृद्धि – गीता परमकल्याण तो देती है, साथ ही मनुष्यों के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं का भी विधान करती है। अध्याय ९/२०-२२ में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि बहुत से लोग निर्धारित विधि से मुझे पूजकर बदले में स्वर्ग की कामना करते हैं। उन्हें विशाल स्वर्गलोक मिलता है, मैं देता हूँ। जो माँगोगे, वह मुझसे मिलेगा; किन्तु उपभोग के पश्चात् समाप्त हो जायेगा, क्योंकि स्वर्ग के भोग भी नश्वर हैं। उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ेगा। हाँ, मुझसे सम्बन्धित होने के कारण वे नष्ट नहीं होते; क्योंकि मैं कल्याणस्वरूप हूँ। मैं उन्हें भोग देता हूँ और शनैः-शनैः निवृत्त कराकर पुनः उन्हें कल्याण में लगा देता हूँ।

क्षेत्र – जिन परमात्मा के श्रीमुख की वाणी यह गीता है उन्होंने स्वयं परिचय दिया, "**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**"- अर्जुन! यह

शरीर ही क्षेत्र (खेत) है, जिसमें बोया गया भला और बुरा कर्मबीज संस्काररूप में जमता है और कालान्तर में सुख-दुःख का रूप लेकर भोग के रूप में मिलता है। आसुरी सम्पद् अधम योनियों में ले जाने के लिए है, जबकि दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलाती है। सद्गुरु के सान्निध्य में इनमें निर्णायक युद्ध का आरंभ होता है, यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई है।

टीकाकार कहते हैं - एक कुरुक्षेत्र बाहर है और दूसरा मन के भीतर है। गीता का एक अर्थ बाहरी है, दूसरा भीतरी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। वक्ता एक बात कहता है; किन्तु श्रोता अपनी बुद्धि के अनुरूप ही उसे पकड़ पाते हैं। इसीलिये अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं। साधन-पथ पर क्रमशः चलकर जो भी पुरुष श्रीकृष्ण के स्तर पर खड़ा हो जायेगा, तो जो दृश्य श्रीकृष्ण के सामने था, वही उसके सामने भी होगा। वही महापुरुष उनके मनोगत भावों को, गीता के संकेतों को समझ सकता है, समझा सकता है।

गीता का एक भी श्लोक बाहर का चित्रण नहीं करता। खाना, पहनना, रहना आप जानते ही हैं। रहन-सहन, मान्यता, लोकरीति-नीति में देश-काल और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन प्रकृति की देन है। इसमें श्रीकृष्ण आपको कौन-सी व्यवस्था दें? कहीं लड़कियों का बाहुल्य है, बहु-विवाह होते हैं, तो कहीं उनकी संख्या कम है। कहीं कई भाइयों के बीच एक पत्नी रह लेती है इसमें श्रीकृष्ण कौन-सी व्यवस्था दें। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जापान में जनसंख्या की कमी समस्या बन गयी, तो तीस बच्चों को जन्म देने वाली एक महिला को मदरलैंड (देश की माता) की उपाधि से सम्मानित किया गया। वैदिककालीन भारत में पहले दस सन्तान उत्पन्न करने का विधान था, अब 'एक या दो बच्चे, होते हैं घर में अच्छे' का नारा लग रहा है। कदाचित् वे न रहें तो देश के लिए चिन्ता का विषय नहीं, समस्या का हल ही होता है। श्रीकृष्ण इसमें कौन-सी व्यवस्था दें?

श्रेय - काम, क्रोध, लोभ, मोह के कहीं स्कूल नहीं खुले हैं, फिर भी इन विकारों में लड़के बड़े तथा सयानों से कहीं अधिक प्रवीण निकलते हैं। इसमें श्रीकृष्ण क्या शिक्षा दें? यह सब तो प्रकृति द्वारा स्वचालित हैं। कभी वेद पढ़ाये जाते थे, धनुर्वेद-गदायुद्ध सिखाया जाता था, आज इन्हें कौन

सीखता है? आज तो पिस्टल चला रहे हैं। स्वचालित यन्त्रों का युग है। कभी रथ-संचालन सीखना पड़ता था, घोड़ों की लीद फेंकनी पड़ती थी - आज मोटरों का तेल साफ किया जाता है। इसमें श्रीकृष्ण क्या बतायें? कह दें कि घोड़ों को ऐसे मत मलो! बाहर आपको कैसी व्यवस्था दें? पहले स्वाहा बोलने से वर्षा होती थी, आज मनचाही फसल लेने लगे हैं। योगेश्वर कहते हैं कि, प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश होकर मनुष्य परिस्थिति के अनुसार ढलता ही रहता है। गुण स्वतः उन्हें ढालने में सक्षम हैं। भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र वह गढ़ता ही रहता है। एक ही वस्तु ऐसी है, जो मनुष्य नहीं जानता, नहीं पहचानता। जो है तो उसी के पास किन्तु उसे विस्मृत है। गीता सुनकर अर्जुन की वही स्मृति लौट आयी थी। वह स्मृति है परमात्मा की, जो हृदय-देश में होकर भी उससे बहुत दूर है। उसी को मनुष्य पाना चाहता है; किन्तु रास्ता नहीं पाता। केवल कल्याण-पथ से ही मनुष्य अनभिज्ञ है। मोह का आवरण इतना घना है कि उधर सोचने का समय ही नहीं मिलता। उन महापुरुष ने आपके लिए समय दिया है, उस कर्म को स्पष्ट किया है, जिसे करने का निर्देश गीता में है। गीता मुख्यतः यही देती है। भौतिक वस्तुएँ भी उससे मिलती है; किन्तु श्रेय की तुलना में प्रेय नगण्य हैं।

योग-प्रदाता - योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार कल्याण-पथ की जानकारी, उसका साधन और उसकी प्राप्ति सद्‌गुरु से होती है। इधर-उधर तीर्थों में बहुत भटकने या बहुत परिश्रम से यह तब तक नहीं मिलता, जब तक किसी सन्त द्वारा न प्राप्त किया जाय। अध्याय ४/३४ में श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! तू किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर, भली प्रकार दण्ड-प्रणाम कर, निष्कपट भाव से सेवा करके, प्रश्न करके उस ज्ञान को प्राप्त कर। प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, किसी महापुरुष का सान्निध्य और उनकी सेवा। उनके अनुसार चलकर योग की संसिद्धि काल में पायेगा। अध्याय १८/१८ में उन्होंने बताया कि, परिज्ञाता अर्थात् तत्त्वदर्शी महापुरुष, ज्ञान अर्थात् जानने की विधि और ज्ञेय परमात्मा - तीनों कर्म के प्रेरक हैं। अतः श्रीकृष्ण के अनुसार महापुरुष ही कर्म के माध्यम हैं, न कि केवल

पुस्तक। किताब तो एक नुस्खा है। नुस्खा रटने से कोई नीरोग नहीं होता बल्कि उसे अमल में लाना है।

नरक – अध्याय १६/१६ में आसुरी सम्पद् का वर्णन करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले, मोह में फँसे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं। प्रश्न स्वाभाविक है कि नरक है कैसा और किसे कहते हैं? इसी क्रम में स्पष्ट करते हैं कि मुझसे द्वेष रखनेवाले नराधमों को मैं बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ, अजस्त्र आसुरी योनियों में गिराता हूँ। यही नरक है। इस नरक का द्वार क्या है? उन्होंने बताया कि काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन द्वार हैं, जिनमें आसुरी सम्पद् गठित होती है। अतः बारम्बार कीट-पतंग, पशु इत्यादि योनियों में आना ही नरक है।

पिण्डदान – प्रथम अध्याय में विषादग्रस्त अर्जुन को आशंका थी कि युद्धजनित नरसंहार से पितर लोग पिण्डदान और तर्पण से वंचित हो जायेंगे, पितर गिर जायेंगे। इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! तुझे यह अज्ञान कहाँ से हो गया? पिण्डोदक क्रिया को योगेश्वर ने अज्ञान कहा और बताया कि जिस प्रकार जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्यागकर मनुष्य नया वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक इसी प्रकार यह आत्मा जीर्ण शरीर को छोड़कर तत्काल शरीररूपी नवीन वस्त्र को ग्रहण कर लेता है। यहाँ शरीर मात्र एक वस्त्र है और जब आत्मा ने केवल वस्त्र बदला, वह मरा नहीं, नश्वर शरीर को ही बदला है, उसकी व्यवस्थायें पूर्ववत् हैं तो इस भोजन (पिण्डदान), आसन, शैय्या, सवारी, आवास या जल इत्यादि से किसे तृप्त किया जाता है? यही कारण है कि योगेश्वर ने इसे अज्ञान कहा। अध्याय १५/७ में इसी पर बल देते हुए कहते हैं कि यह आत्मा मेरा सनातन अंश है, स्वरूप है और मनसहित पाँचों इन्द्रियों के कार्य-कलापजन्य संस्कार को लेकर दूसरे शरीर को धारण कर लेता है और मनसहित षट् इन्द्रियों के द्वारा अगले शरीर में विषय-भोगों को भोगता है। आत्मा ने जिस शरीर को धारण किया, वहाँ भी भोग-सामग्री उपलब्ध है, फिर पिण्डदान क्यों दिया जाता है?

इधर एक शरीर को छोड़ा, उधर दूसरे शरीर को धारण किया। वह सीधा उस शरीर में जाता है, बीच में कोई विराम नहीं, कोई स्थान नहीं तो

हजारों पीढ़ियों के पितरों का अनादिकाल से पड़ा रहना और उनकी जीविका वंश-परम्परा के हाथ निर्धारित करना तथा पिंजड़े के पक्षी की तरह उनका रुदन, पतन एक अज्ञान मात्र है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने इसे अज्ञान कहा।

पाप और पुण्य – इस प्रश्न पर समाज में अनेक भ्रान्तियाँ हैं; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार रजोगुण से उत्पन्न यह काम और क्रोध, भोगों से कभी तृप्त न होनेवाले महान पापी हैं। अर्थात् काम ही एकमात्र पापी है। पाप का उद्गम काम है, कामनायें हैं। ये कामनायें रहती कहाँ हैं? श्रीकृष्ण ने बताया कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वास-स्थान कहे जाते हैं। जब विकार तन में नहीं, मन में ही होते हैं, तो शरीर धोने से क्या होगा?

श्रीकृष्ण के अनुसार इस मन की शुद्धि होती है नाम-जप से, ध्यान से, समकालीन किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा से, उनके प्रति समर्पण से, जिसके लिए वे ४/३४ में प्रोत्साहित करते हैं कि **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'** सेवा और प्रश्न करके उस ज्ञान को प्राप्त करो, जिससे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

अध्याय ३/१३ में उन्होंने कहा कि यज्ञ से शेष बचे अन्न को खानेवाले सन्तजन सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और जो शरीर के लिए कामना करते हैं, वे पापी पाप ही खाते हैं। यहाँ यज्ञ चिन्तन की एक निश्चित क्रिया है, जिससे मन में निहित चराचर जगत् के संस्कार जल जाते हैं। शेष केवल ब्रह्म ही बचता है। अतः शरीर के जन्म का जो कारण है, वही पाप है और जो उस अमृत तत्त्व को दिलानेवाला है, जिसके पश्चात् कभी शरीर धारण न करना पड़े, वही पुण्य है।

अध्याय ७/२९ में वे कहते हैं कि, मेरी शरण होकर जरा-मरण और दोषों से छूटने के लिए यत्न करनेवाले पुण्यकर्मी जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे सम्पूर्ण ब्रह्म को, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अध्यात्म तथा भली प्रकार मुझे जानते हैं और मुझे जानकर मुझमें ही स्थित रहते हैं। अतः पुण्यकर्म वह है, जो जरा-मरण और दोषों से ऊपर उठाकर शाश्वत की जानकारी और उसी में सदा के लिये स्थिति दिलाता है। और जो जन्म-मृत्यु, जरा-मरण, दुःख-दोषों की परिधि में घुमाकर रखता है, वही पापकर्म है।

अध्याय १०/३ में कहते हैं – जो मुझ जन्म-मृत्यु से रहित, आदि-अन्त से रहित सब लोकों के महान् ईश्वर को साक्षात्कारसहित विदित कर

लेता है, वह पुरुष मरणधर्मा मनुष्यों में ज्ञानवान् है और ऐसा जाननेवाला सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। अतः साक्षात्कार के साथ ही सम्पूर्ण पापों से निवृत्ति मिलती है।

सारांशतः बार-बार जन्म-मृत्यु का कारण ही पाप है और जो उससे बचाकर शाश्वत परमात्मा की ओर घुमा दे, परमशान्ति की प्राप्ति करा दे, वही पुण्यकर्म है। सच बोलना, केवल अपने परिश्रम का खाना, स्त्रियों में मातृ-भाव, ईमानदारी इत्यादि भी इस पुण्यकर्म के सहायक अंग हैं; किन्तु सर्वोत्कृष्ट पुण्य है परमात्मा की प्राप्ति। जो मात्र एक परमात्मा की श्रद्धा को तोड़ता है, वह पाप है।

सन्त सब एक – गीता, अध्याय ४/१ में भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि, इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में मैंने सूर्य के प्रति कहा था; किन्तु श्रीकृष्ण के पूर्वकालीन इतिहास अथवा अन्य किसी भी शास्त्र में कृष्ण-नाम का उल्लेख नहीं मिलता।

वास्तव में श्रीकृष्ण एक पूर्ण योगेश्वर हैं। वे एक अव्यक्त और अविनाशी भाव की स्थिति के हैं। जब कभी परमात्मा से मिलानेवाली क्रिया अर्थात् योग का सूत्रपात किया गया तो इसी स्थितिवाले किसी महापुरुष ने किया, चाहे वह राम हों या ऋषि जरथुस्त्र ही क्यों न रहे हों? परवर्तीकाल में यही उपदेश ईसा, मुहम्मद, गुरुनानक इत्यादि जिस किसी के द्वारा निकला, कहा श्रीकृष्ण ने ही।

अतः सभी महापुरुष एक ही हैं। सब-के-सब एक ही बिन्दु का स्पर्श कर एक ही स्वरूप को पाते हैं। यह पद एक इकाई है। अनेक पुरुष इस पथ पर चलेंगे; लेकिन जब पायेंगे, एक ही पद को पायेंगे। ऐसी अवस्था को प्राप्त सन्त का शरीर एक मकान मात्र रह जाता है, वे शुद्ध आत्मस्वरूप हैं। ऐसी स्थितिवालों ने कभी कुछ कहा तो एक योगेश्वर ने ही कहा।

सन्त कहीं न कहीं तो जन्म लेता ही है। पूरब अथवा पश्चिम में, श्याम अथवा श्वेत परिवार में, पूर्वप्रचलित किन्हीं धर्मावलम्बियों के बीच अथवा अबोध कबीलों में, सामान्य जीवन जीनेवाले गरीब अथवा अमीरों में जन्म लेकर भी सन्त उनकी परम्परावाला नहीं होता। वह तो अपने लक्ष्य परमात्मा

को पकड़कर स्वरूप की ओर अग्रसर हो जाता है, वही हो जाता है। उनके उपदेशों में जाति-पाँति, वर्गभेद और अमीर-गरीब की दीवारें नहीं रहती हैं। यहाँ तक कि उनकी दृष्टि में नर-मादा का भेद भी नहीं रह जाता (देखें, गीता-१५/१६ - द्वाविमौ पुरुषौ लोके)।

महापुरुषों के पश्चात् उनके अनुयायी अपना सम्प्रदाय बनाकर संकुचित हो जाते हैं। किसी महापुरुष के पीछे चलनेवाले यहूदी हो जाते हैं, तो किसी के अनुयायी ईसाई, मुसलमान, सनातनी इत्यादि हो जाते हैं; किन्तु इन दीवारों से सन्त का सम्बन्ध कदापि नहीं होता। सन्त न तो कोई साम्प्रदायिक है और न कोई जाति। सन्त, सन्त है। उन्हें किसी सामाजिक संगठन में न समेटें।

अतः संसार भर के सन्तों की, चाहे किसी कबीले में उनका जन्म हुआ है, चाहे किसी मज़हब सम्प्रदाय वाले उनका पूजन अधिक करते हों, किसी साम्प्रदायिक प्रभाव में आकर ऐसे सन्तों की आलोचना नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे निरपेक्ष हैं। संसार के किसी भी स्थान में उत्पन्न सन्त निन्दा के योग्य नहीं होता। यदि कोई ऐसा करता है तो वह अपने अन्दर स्थित अन्तर्यामी परमात्मा को दुर्बल करता है, अपने परमात्मा से दूरी पैदा कर लेता है, स्वयं अपनी क्षति करता है। संसार में जन्म लेनेवालों में यदि आपका कोई सच्चा हितैषी है, तो सन्त ही। अतः उनके प्रति सहृदय रहना संसार भर के लोगों का मूल कर्त्तव्य है। इससे वंचित होना अपने को धोखा देना है।

वेद - गीता में वेद का वर्णन बहुत आया है; किन्तु कुल मिलाकर वेद मार्ग-निर्देशक (Mile Stone) चिह्न मात्र हैं। मंजिल तक पहुँच जाने पर उस व्यक्ति के लिए उनका उपयोग समाप्त हो जाता है। अध्याय २/४५ में श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश कर पाते हैं, तू वेदों के कार्यक्षेत्र से ऊपर उठ। अध्याय २/४६ में कहा - सब ओर से परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय प्राप्त होने पर छोटे जलाशयों से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म के ज्ञाता महापुरुष अर्थात् ब्राह्मणों का वेदों से इतना ही प्रयोजन रह जाता है; किन्तु दूसरों के लिए तो उनका उपयोग है

ही। अध्याय ८/२८ में कहा – अर्जुन! मुझे तत्त्व से भलीभाँति जान लेने पर योगी वेद, यज्ञ, तप, दान इत्यादि के पुण्यफलों को पार कर सनातन पद को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जब तक वेद जीवित हैं, यज्ञ करना शेष है, तब तक सनातन पद की प्राप्ति नहीं है। अध्याय १५/१ में बताया – ऊपर परमात्मा ही जिसका मूल है, नीचे कीट-पतंगपर्यन्त प्रकृति जिसकी शाखा-प्रशाखा है, संसार ऐसा पीपल का एक अविनाशी वृक्ष है। जो इसे मूलसहित जानता है, वह वेद का ज्ञाता है। इस जानकारी का स्रोत महापुरुष हैं, उनके द्वारा निर्दिष्ट भजन है। पुस्तक या पाठशाला भी उन्हीं की ओर प्रेरित करते हैं।

ओम् – श्रीकृष्ण के निर्देशन में ॐ के जप का विधान पाया जाता है। अध्याय ७/८-ओंकार मैं हूँ। ८/१३-ॐ को जप और मेरा चिन्तन कर। अध्याय ९/१७- जानने योग्य पवित्र ओंकार मैं हूँ। अध्याय १०/३३- अक्षरों में 'अकार' हूँ। १०/२५- वचनों में एक अक्षर मैं हूँ। अध्याय १७/२३-ॐ, तत् और सत् ब्रह्म का परिचायक है। १७/२४-यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ ॐ से ही प्रारम्भ होती हैं। अतः श्रीकृष्ण के अनुसार ॐ का जप नितान्त आवश्यक है, जिसकी विधि किसी अनुभवी महापुरुष से सीखें।

गीतोक्त ज्ञान ही विशुद्ध मनुस्मृति – गीता आदिमानव महाराज मनु से भी पूर्व प्रकट हुई है – **'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।' (४/१)** अर्जुन! इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा तथा सूर्य ने मनु से कहा। मनु ने उसे श्रवण कर अपनी याददाश्त में धारण किया; क्योंकि श्रवण की गयी वस्तु मन की स्मृति में ही रखी जा सकती है। इसी को मनु ने राजा इक्ष्वाकु से कहा। इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना और इस महत्वपूर्ण काल से यह अविनाशी योग इसी पृथ्वी में लुप्त हो गया। आरंभ में कहने और श्रवण करने की परम्परा थी। लिखा भी जा सकता है – ऐसी कल्पना नहीं थी। मनु महाराज ने इसे मानसिक स्मृति में धारण किया तथा स्मृति की परम्परा दी। इसलिये यह गीतोक्त ज्ञान ही विशुद्ध मनुस्मृति है।

भगवान ने यह ज्ञान मनु से भी पूर्व सूर्य से कहा तो इसे 'सूर्यस्मृति' क्यों नहीं कहते? वस्तुतः सूर्य ज्योतिर्मय परमात्मा का वह अंश है जिससे

इस मानव सृष्टि का सृजन हुआ। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, ''मैं ही परम चेतन बीजरूप से पिता हूँ, प्रकृति गर्भ धारण करनेवाली माँ है। ''वह बीजरूप पिता सूर्य है। सूर्य परमात्मा की वह प्रशक्ति है जिसने मानव की संरचना की। वह कोई व्यक्ति नहीं और जहाँ परमात्मा के उस ज्योतिर्मय तेज से मानव की उत्पत्ति हुई उस तेज में वह गीतोक्त ज्ञान भी प्रसारित किया अर्थात् सूर्य से कहा। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा इसलिये यह 'मनुस्मृति' है। सूर्य कोई व्यक्ति नहीं, बीज है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं - अर्जुन! वही पुरातन योग मैं तेरे लिये कहने जा रहा हूँ। तू प्रिय भक्त है, अनन्य सखा है। अर्जुन मेधावी थे, सच्चे अधिकारी थे। उन्होंने प्रश्न-परिप्रश्नों की शृंखला खड़ी कर दी कि, आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य का जन्म बहुत पहले हुआ है। इसे आपने ही सूर्य से कहा, यह मैं कैसे मान लूँ? इस प्रकार बीस-पच्चीस प्रश्न उन्होंने किये। गीता के समापन तक उनके सम्पूर्ण प्रश्न समाप्त हो गये, तब भगवान ने, जो प्रश्न अर्जुन नहीं कर सकते थे, जो उनके हित में थे, उन्हें स्वयं उठाया और समाधान दिया। अन्ततः भगवान ने कहा, अर्जुन! क्या तुमने मेरे उपदेश को एकाग्रचित्त हो श्रवण किया? क्या मोह से उत्पन्न तुम्हारा अज्ञान नष्ट हुआ? अर्जुन ने कहा -

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।१८/७३

भगवन्! मेरा मोह नष्ट हुआ। मैं स्मृति को प्राप्त हुआ हूँ। केवल सुना भर नहीं अपितु स्मृति में धारण कर लिया है। मैं आपके आदेश का पालन करूँगा, युद्ध करूँगा। उन्होंने धनुष उठा लिया, युद्ध हुआ, विजय प्राप्त की, एक विशुद्ध धर्म-साम्राज्य की स्थापना हुई और एक धर्मशास्त्र के रूप में वही आदि धर्मशास्त्र गीता पुनः प्रसारण में आ गयी।

गीता आपका आदि धर्मशास्त्र है। यही मनुस्मृति है, जिसे अर्जुन ने अपनी स्मृति में धारण किया था। मनु के समक्ष दो कृतियों का उल्लेख है - एक तो पिता से उपलब्ध गीता, दूसरे वेद मनु के समक्ष उतरे। तीसरी कोई कृति मनु के समय में प्रकट नहीं हुई थी। उस समय लिखने-लिखाने का

प्रचलन नहीं था, कागज कलम का प्रचलन नहीं था इसलिए ज्ञान को श्रुत अर्थात् सुनने और स्मृति-पटल पर धारण करने की परम्परा थी। जिनसे मानवों का प्रादुर्भाव हुआ, सृष्टि के प्रथम मानव उन मनु महाराज ने वेद को श्रुति तथा गीता को स्मृति का सम्मान दिया।

वेद मनु के समक्ष उतरे थे, इन्हें सुनें, यह सुनने योग्य हैं। बाद में भले ही इसे भूल जायँ तो कोई क्षति नहीं; किन्तु गीता स्मृति है, सदा स्मरण रखें। यह हर मानव को सदा रहनेवाला जीवन, सदा रहनेवाली शान्ति और सदा रहनेवाली समृद्धि, ऐश्वर्यसम्पन्न जीवन प्राप्त करानेवाला ईश्वरीय गायन है।

भगवान ने कहा- अर्जुन! यदि तू अहंकारवश मेरे उपदेश को नहीं सुनेगा तो विनष्ट हो जायेगा अर्थात् गीता के उपदशों की अवहेलना करनेवाला नष्ट हो जाता है। अध्याय पंद्रह के अन्तिम श्लोक (१५/२०) में भगवान ने कहा, **'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।'** यह गोपनीय से भी अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे तत्त्व से जानकर तू समस्त ज्ञान और परमश्रेय की प्राप्ति कर लेगा। अध्याय सोलह के अंतिम दो श्लोकों में कहा- **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।'** इस शास्त्रविधि को त्यागकर, कामनाओं से प्रेरित होकर अन्य विधियों से जो भजते हैं उनके जीवन में न सुख है, न समृद्धि है और न परमगति ही है।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' इसलिये अर्जुन! तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में यह शास्त्र ही प्रमाण है। इसको भलीप्रकार अध्ययन कर, तत्पश्चात् आचरण कर। तुम मुझमें निवास करोगे, अविनाशी पद प्राप्त कर लोगे। सदा रहनेवाला जीवन, सदा रहनेवाली शान्ति और समृद्धि पा लोगे।

गीता मनुस्मृति है और भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार गीता ही धर्मशास्त्र है। अन्य कोई शास्त्र नहीं, कोई अन्य स्मृति नहीं है। समाज में प्रचलित अनेकानेक स्मृतियाँ गीता के विस्मृत हो जाने का दुष्परिणाम हैं। स्मृतियाँ कतिपय राजाओं के संरक्षण में लिखी समाज में ऊँच-नीच की दीवार सृजित करने, इसे बनाये रखने का उपाय हैं। मनु के नाम पर प्रचारित तथा कथित मनुस्मृति में मनुकालीन वातावरण का चित्रण नहीं है। मूल मनुस्मृति

गीता एक परमात्मा को ही सत्य मानती है, उसमें विलय दिलाती है; किन्तु वर्तमान काल में प्रचलित लगभग १६४ स्मृतियाँ परमात्मा का नाम तक नहीं लेतीं, न परमात्मा की प्राप्ति के उपायों पर प्रकाश डालती हैं। वे केवल स्वर्ग के आरक्षण तक ही सीमित रहकर 'न अस्ति'- जो है नहीं, उन्हीं को ही प्रोत्साहन देती हैं। मोक्ष का उनमें उल्लेख तक नहीं है।

महापुरुष - महापुरुष बाह्य तथा आंतरिक, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक, लोकरीति और यथार्थ वेद-रीति दोनों की जानकारी रखता है। यही कारण है कि समस्त समाज को महापुरुषों ने रहन-सहन का विधान बताया और एक मर्यादित व्यवस्था दी। वशिष्ठ, विश्वामित्र, स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण, महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध, मूसा, ईसा, मुहम्मद, रामदास, दयानन्द, गुरु गोविन्द सिंह इत्यादि सहस्रों महापुरुषों ने ऐसा किया; किन्तु ये व्यवस्थाएँ सामयिक होती हैं। पीड़ित समाज को भौतिक वस्तु प्रदान करना यथार्थ नहीं है। भौतिक उलझनें क्षणिक हैं, शाश्वत नहीं इसलिए उनका हल भी तत्सामयिक होता है। उन्हें चिरंतन व्यवस्था के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

व्यवस्थाकार - सामाजिक विकृतियों को महापुरुष सुलझाया करते हैं। यदि इन्हें न सुलझाया जाय, तो ज्ञान-वैराग्यजनित परम की साधना कौन सुनेगा? व्यक्ति जिस वातावरण मे फँसा है, उसे वहाँ से हटाकर यथार्थ को जानने की स्थिति में लाने के लिए अनेकानेक प्रलोभन दिये जाते हैं। एतदर्थ महापुरुष जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, कोई व्यवस्था देते हैं, वह धर्म नहीं है। उससे सौ-दो सौ साल की व्यवस्था मिलती है, चार-छः सौ साल के लिए उदाहरण बन जाता है और हजार दो हजार वर्ष में वह सामाजिक आविष्कार नवीन परिस्थितियों के साथ-साथ निष्प्राण हो जाता है। गुरु गोविन्द सिंह की सामाजिक व्यवस्था में शस्त्र अनिवार्य था। क्या अब उस तलवार का शस्त्र के स्थान पर औचित्य है? ईसा गदहे पर बैठते थे। (मत्ती, २१) गदहे के सम्बन्ध में उनकी दी हुई व्यवस्थाओं का आज क्या उपयोग है? कहा - किसी का गधा मत चुराओ। आज गधा कौन पालता है? इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उस समय के समाज को सम्यक् व्यवस्थित किया, जिसका उल्लेख महाभारत, भागवत इत्यादि ग्रन्थों में है, साथ ही इन ग्रन्थों में उन्होंने यथार्थ का भी यत्र-

तत्र चित्रण किया। परमकल्याणकारी साधना और भौतिक व्यवस्थाओं के निर्देश को एक में मिला देने से समाज तत्त्वनिर्णायक क्रम को पूरा-पूरा नहीं समझ पाता। भौतिक व्यवस्थाओं को वह ज्यों-का-त्यों नहीं बल्कि बढ़ा-चढ़ाकर ग्रहण करता है; क्योंकि वह भौतिक है। ''महापुरुष ने कहा'' - ऐसा कहकर इन व्यवस्थाओं के लिए महापुरुषों की दुहाई भी देते हैं। वे महापुरुष की वास्तविक क्रिया को तोड़-मरोड़कर उसे भ्रामक बना देते हैं। वेद, रामायण, महाभारत, बाइबिल, कुरान सबके प्रति पूर्वाग्रहयुक्त धूमिल धारणाएँ शेष हैं। बाह्य धरातल पर जीवनयापन करनेवाला समाज उनके कथन का स्थूल आशय ही ग्रहण कर पाता है। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने शाश्वत धाम, अनन्त जीवन, सदा रहनेवाली शान्ति प्रदायिनी गीता शास्त्र को भौतिक व्यवस्थाओं से पृथक् किया। महाभारत भारत का बृहत् इतिहास तथा गौरवशाली संस्कृति शास्त्र है। उन्होंने इस विशाल इतिहास के मध्य इसका गायन किया, जिससे भविष्य में आनेवाली समस्त पीढ़ियाँ इस धर्मशास्त्र को धार्मिक धरातल पर यथावत समझ सकें। कालान्तर में महर्षि पतञ्जलि इत्यादि अनेक महापुरुषों ने भी परमश्रेय की यथार्थ विधि को सामाजिक व्यवस्था से हटाकर अलग प्रस्तुत किया।

गीता मनुष्य मात्र के लिए -

भगवान ने इस धर्मशास्त्र का उपदेश **'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'** (गीता, १/२०)- ठीक शस्त्र-संचालन के समय किया क्योंकि वह भली प्रकार जानते थे कि भौतिक संसार में कभी शान्ति और सुख होता ही नहीं। अरबों लोगों की आहुति के उपरान्त भी जो विजेता होंगे वह भी विफल मनोरथ और अन्ततः उदास ही होंगे, इसलिये उन्होंने ऐसे शाश्वत युद्ध का परिचय गीता के माध्यम से दिया, जिसमें एक बार विजय हो जाने पर सदा रहनेवाली विजय, अनन्त जीवन और अक्षय धाम है, जो मानव मात्र के लिए सदैव सुलभ है, जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई है, प्रकृति और पुरुष का संघर्ष है, अंतःकरण में अशुभ का अन्त और शुभ परमात्मस्वरूप की प्राप्ति का साधन है।

उत्तम अधिकारी के प्रति ही उन्होंने इसे व्यक्त किया। श्रीकृष्ण ने बारम्बार कहा कि तुझ अतिशय प्रीति रखनेवाले भक्त के प्रति हित की इच्छा से कहता

हूँ। यह अति गोपनीय है। अन्त में उन्होंने कहा जो भक्त नहीं है तो प्रतीक्षा करो उसे रास्ते पर लाओ फिर उसी के लिए कहो। यह मनुष्य मात्र के लिए यथार्थ कल्याण का एकमात्र साधन है जिसका क्रमबद्ध वर्णन श्रीकृष्णोक्त गीता है।

प्रस्तुत टीका -

योगेश्वर श्रीकृष्ण के द्वारा प्रसारित श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के आशय का यथावत अनुवाद करने के कारण प्रस्तुत टीका का नाम 'यथार्थ गीता' है। यह भगवान की अन्तस्प्रेरणा पर आधारित है। गीता अपने मे पूर्ण साधन ग्रंथ है। सम्पूर्ण गीता मे सन्देह का एक भी स्थल नही है। जहां कहीं सन्देह है वह बौद्धिक स्तर पर इसे जाना नही जा सकता, इसलिए प्रतीत होता है। अतः कहीं समझ न आये तो किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के सान्निध्य में समझने का प्रयास करें।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

निवेदन

'यथार्थ गीता' योगेश्वर श्रीकृष्ण की परम पुनीत वाणी श्रीमद्भगवद्गीता का ही अर्थ है। इसमें आपके हृदय में स्थित परमात्मा की प्राप्ति के विधान का प्राप्ति के पश्चात् किया गया चित्रण है। अवहेलना की दृष्टि से इसका उपयोग वर्जित है, अन्यथा हम अपने लक्ष्य की जानकारी से वंचित रह जायेंगे। इसके श्रद्धापूर्वक अध्ययन से मानव अपने कल्याण के साधन से भरपूर हो जाता है और यत्किंचित् भी ग्रहण करेगा तो परमश्रेय को प्राप्त कर लेगा; क्योंकि इस ईश्वर-पथ में आरम्भ का कभी नाश नहीं होता।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

कैसेट प्रसारण में अध्यायों के पूर्व की भूमिका

१. केवल एक परमात्मा में श्रद्धा और समर्पण का सन्देश देनेवाली गीता सबको पवित्र करने का खुला आमन्त्रण देती है। सृष्टि में कहीं भी रहनेवाले अमीर अथवा गरीब, कुलीन तथा आदिवासी, पुण्यात्मा और पापी, स्त्री और पुरुष, सदाचारी एवं अत्यन्त दुराचारी - सबका उसमें प्रवेश है। विशेषकर गीता पापियों के ही उद्धार का सुगम पथ बताती है, पुण्यात्मा तो भजते ही हैं। प्रस्तुत है उसी गीता की अद्वितीय व्याख्या 'यथार्थ गीता' का कैसेट प्रसारण।

२. शास्त्र की रचना दो दृष्टियों से की जाती है- एक तो सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति को कायम रखना, जिससे लोग पूर्वजों के पदचिह्नों का अनुकरण कर सकें तथा दूसरा यह कि वे शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लें। रामचरित मानस, बाइबिल, कुरान इत्यादि में दोनों पक्षों का समावेश है; किन्तु भौतिक दृष्टि-प्रधान होने के कारण मनुष्य समाजोपयोगी व्यवस्था को ही पकड़ पाता है। आध्यात्मिक सूक्तियों को भी वह सामाजिक व्यवस्था के ही सन्दर्भ में देखने लगता है। कहता है कि ऐसा तो शास्त्र में लिखा है। इसलिये वेदव्यास ने दोनों के लिए एक ही ग्रन्थ महाभारत लिखते हुए भी आध्यात्मिक क्रिया का संकलन गीता के रूप में अलग से किया जिससे कि लोग इस मूल कल्याण-पथ में भ्रान्ति का मिश्रण न कर सकें। उन्हीं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ प्रस्तुत है गीता का दिव्य सन्देश।

३. गीता किसी विशेष व्यक्ति, किसी जाति, वर्ग, पन्थ, देश-काल या किसी रूढ़िग्रस्त सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है बल्कि यह सार्वलौकिक तथा सार्वकालिक धर्मशास्त्र है। यह प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक आयु के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिये, सबके लिये है। सचमुच गीता सम्पूर्ण मानव जाति का धर्मशास्त्र है। और कितने गौरव की बात है कि गीता आपका धर्मशास्त्र है।

४. पूज्य भगवान महावीर, तथागत भगवान बुद्ध विज्ञ होते हुए भी लोकभाषाओं में गीता के ही सन्देशवाहक हैं। आत्मा सत्य है और पूर्ण संयम से आत्मस्थिति का विधान है- यह गीता का ही विचार है। बुद्ध ने उसी तत्त्व को सर्वज्ञ तथा अविनाशी पद कहकर गीता के ही विचार को पुष्ट किया है। इतना ही नहीं अपितु विश्व वाङ्मय में धर्म

के नाम पर जो कुछ भी सार-सर्वस्व है - जैसे एक ईश्वर, प्रार्थना, पश्चाताप, तप इत्यादि - गीता के ही उपदेश हैं। वही उपदेश स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी के मुखाब्ज से निःसृत यथार्थ गीता कैसेट रूप में मानव की मुक्ति का दिव्य सन्देश बनकर उपस्थित है।

५. भारत की लोकगाथाओं में है कि सुकरात की शिष्य परम्परा के मनीषी अरस्तू ने अपने शिष्य सिकन्दर को भारत से गीताज्ञानी गुरु लाने का निर्देश दिया था। गीता के ही एकेश्वरवाद को विश्व की विविध भाषाओं में मूसा, ईसा तथा अनेक सूफी महात्माओं ने फैलाया। भाषान्तर होने से ये पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु सिद्धान्त गीता के ही हैं। अतः गीता मानव मात्र का अतर्क्य धर्मशास्त्र है। गीता का आशय 'यथार्थ गीता' के रूप में प्रस्तुत कर स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज ने मानव मात्र को एक अमूल्य निधि दी है, जिसका कैसेट रूपान्तरण श्री जीतेन भाई के सौजन्य से हुआ है। गीता के दसियों हजार अनुवादों के बीच देदीप्यमान इस व्याख्या के आलोक में आप सब परमश्रेय के साधक बनें।

६. संसार में प्रचलित सभी धर्म गीता की दूरस्थ प्रतिध्वनि मात्र हैं। स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज द्वारा इसकी व्याख्या 'यथार्थ गीता' को सुनकर जैन कुलोत्पन्न श्री जीतेन भाई जी ने व्रत ही ले लिया कि कैसेटों के माध्यम से इनका प्रसारण करूँ; क्योंकि भगवान महावीर, भगवान गौतम बुद्ध, गुरु नानक, कबीर इत्यादि के श्रद्धापूरित तप-सिद्धान्तों की उच्चतम अभिव्यक्ति गीता है। गीता के वे ही कैसेट सुमन आप सबके समक्ष आत्म-दर्शनार्थ प्रस्तुत हैं।

७. गीता के दो हजार वर्ष बाद तक धर्म के नाम पर सम्प्रदाय नहीं बने थे इसीलिये गीता मज़हब मुक्त है। उस समय विश्व-मनीषा में एक ही शास्त्र गूँज रहा था- उपनिषद्-सार गीता! मोक्ष और समृद्धि की स्रोत गीता!! शास्त्र पढ़ने की अपेक्षा उसका श्रवण अधिक लाभदायक है क्योंकि उच्चारण की शुद्धता इत्यादि में एकाग्रता बँट जाती है। इसीलिए सरल भाषा में रूपान्तरित यथार्थ गीता के ये कैसेट आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं। इनके श्रवण से बच्चे-बच्चे में, पास-पड़ोस में परमात्मा के शुभ संस्कारों का संचार होगा, आपके घर-आँगन का वायुमण्डल भी तपोभूमि-सा सुरभित हो उठेगा।

८. वह घर श्मशान है जिसमें प्रभु-चर्चा न हो। आज का मानव इतना व्यस्त है कि चाह कर भी भजन के लिये समय नहीं निकाल पाता। ऐसी परिस्थिति में गीता का सन्देश कर्ण-कुहरों तक पहुँच भर जाय तो परमश्रेय और समृद्धि के संस्कारों का बीजारोपण हो जाता है। भगवान की वाणी के इन कैसटों से दिन भर उस परम प्रभु का स्मरण बना रहेगा और यही भजन की आधारशिला है।

९. अपने बच्चों को हम शिक्षा दिलाते हैं कि वह अच्छे संस्कारों का अर्जन करें। अच्छे संस्कारों का आशय लोग लेते हैं कि वह अपनी रोजी-रोटी, आवास-विकास की समस्याओं को हल कर ले। ईश्वर की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। किसी-किसी के पास इतना कुछ है कि प्रभु को पुकारने की आवश्यकता ही नहीं समझता। किन्तु यह सब कुछ पार्थिव ही तो है। न चाहते हुए भी सारा वैभव यहीं छोड़कर जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर की पहचान ही एकमात्र सम्बल है, जिसे प्रदान कर रहा है यथार्थ गीता का यह कैसेट प्रसारण।

१०. संसार में जितने भी धार्मिक मत-मतान्तर हैं, वे सब के सब किसी महापुरुष के पीछे श्रद्धालुओं का संगठित समाज है। महापुरुष की एकान्त भजनस्थली ही कालान्तर में तीर्थ, आश्रम, मठ और मन्दिरों का रूप ले लेते हैं, जहाँ महापुरुष के नाम पर जीविकोपार्जन से लेकर विलासिता तक के साधन जुटाये जाते हैं। गद्दियाँ महापुरुष के बाद बनती हैं, गद्दियों से कोई महापुरुष नहीं बनता। इसीलिए धर्म सदा से ही प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष के क्षेत्र की वस्तु रहा है। गीता ऐसे ही निर्विवाद महापुरुष योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की वाणी है, जिसके चिरन्तन सत्यों से आपका साक्षात् करा रहा है 'यथार्थ गीता' का यह कैसेट प्रसारण।